

## Chapter ग्यारह

### युद्ध बन्द करने के लिए

### ध्रुव को स्वायंभुव मनु की सलाह

मैत्रेय उवाच

निशम्य गदतामेवमृषीणां धनुषि ध्रुवः ।

सन्दधेऽस्त्रमुपस्पृश्य यन्नारायणनिर्मितम् ॥ १ ॥

#### शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय मुनि ने आगे कहा; निशम्य—सुनकर; गदताम्—शब्द; एवम्—इस प्रकार; ऋषीणाम्—ऋषियों के; धनुषि—अपने धनुष पर; ध्रुवः—ध्रुव महाराज ने; सन्दधे—सन्धान किया; अस्त्रम्—बाण; उपस्पृश्य—जल छूकर; यत्—जो; नारायण—नारायण द्वारा; निर्मितम्—बनाया गया।

श्री मैत्रेय ने कहा : हे विदुर, जब ध्रुव महाराज ने ऋषियों के प्रेरक शब्द सुने तो उन्होंने जल लेकर आचमन किया और भगवान् नारायण द्वारा निर्मित बाण लेकर उसे अपने धनुष पर चढ़ाया।

तात्पर्य : ध्रुव महाराज को भगवान् नारायण द्वारा स्वयं निर्मित विशेष बाण प्रदान किया गया था, अतः उन्होंने यक्षों की माया को दूर करने के लिए उसे धनुष पर चढ़ाया। जैसाकि *भगवद्गीता* (७.१४) में कहा गया है—*मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते*। बिना भगवान् नारायण के कोई भी माया के कर्म को जीत पाने में समर्थ नहीं है। श्री चैतन्य महाप्रभु ने भी इस युग के लिए एक अच्छा अस्त्र प्रदान किया है, जैसाकि *भागवत* में कथित है—*सांगोपांगास्त्र*—इस युग में माया को भगाने का नारायणास्त्र हरे कृष्ण मंत्र का जप है, जिस पर भगवान् चैतन्य के पार्षदों—अद्वैत प्रभु, नित्यानन्द, गदाधर तथा श्रीवास—ने बल दिया है।

सन्धीयमान एतस्मिन्माया गुह्यकनिर्मिताः ।

क्षिप्रं विनेशुर्विदुर क्लेशा ज्ञानोदये यथा ॥ २ ॥

#### शब्दार्थ

सन्धीयमाने—धनुष पर रखते हुए; एतस्मिन्—इस नारायणास्त्र को; मायाः—माया, मोह; गुह्यक-निर्मिताः—यक्षों द्वारा निर्मित; क्षिप्रम्—शीघ्र; विनेशुः—नष्ट हो गये; विदुर—हे विदुर; क्लेशाः—मोहजनित कष्ट तथा आनन्द; ज्ञान-उदये—ज्ञान के उदय होने पर; यथा—जिस प्रकार।

ज्योंही ध्रुव महाराज ने अपने धनुष पर नारायणास्त्र को चढ़ाया, त्योंही यक्षों द्वारा रची गई

सारी माया उसी प्रकार तुरन्त दूर हो गई जिस प्रकार कि आत्मज्ञान होने पर समस्त भौतिक क्लेश तथा सुख विनष्ट हो जाते हैं।

तात्पर्य : कृष्ण सूर्य की भाँति हैं और माया अंधकार के तुल्य है। अंधकार का अर्थ है प्रकाश का अभाव और माया का अर्थ है कृष्ण-चेतना का अभाव। कृष्ण-चेतना तथा माया सदैव पास-पास रहती हैं। ज्योंही कृष्ण-चेतना जाग्रत हो जाती है, समस्त मायाजनित भौतिक कष्ट तथा सुख दूर हो जाते हैं।  
मायामेतां तरन्ति ते—महामन्त्र का निरन्तर जप माया की शक्ति से हमें सदैव दूर रखता है।

तस्यार्षास्त्रं धनुषि प्रयुञ्जतः

सुवर्णपुङ्खाः कलहंसवाससः ।

विनिःसृता आविविशुद्विषद्वलं

यथा वनं भीमरवाः शिखण्डिनः ॥ ३ ॥

#### शब्दार्थ

तस्य—जब ध्रुव ने; आर्ष-अस्त्रम्—नारायण ऋषि द्वारा प्रदत्त हथियार; धनुषि—अपने धनुष पर; प्रयुञ्जतः—चढ़ाया; सुवर्ण-पुङ्खाः—सुनहले फलों वाले ( तीर ); कलहंस-वाससः—हंस के पंखों के समान; विनिःसृताः—निकल पड़े; आविविशुः—प्रविष्ट; द्विषत्-बलम्—शत्रु के सैनिक; यथा—जिस प्रकार; वनम्—वन में; भीम-रवाः—भीषण शब्द करते; शिखण्डिनः—मोर।

ध्रुव महाराज ने ज्योंही अपने धनुष पर नारायण ऋषि द्वारा निर्मित अस्त्र को चढ़ाया, उससे सुनहरे फलों तथा पंखोंवाले बाण हंस के पंखों के समान बाहर निकलने लगे। वे फूत्कार करते हुए शत्रु सैनिकों में उसी प्रकार घुसने लगे जिस प्रकार मोर केका ध्वनि करते हुए जंगल में प्रवेश करते हैं।

तैस्तिग्मधारैः प्रधने शिलीमुखैर्

इतस्ततः पुण्यजना उपद्रुताः ।

तमभ्यधावन्कुपिता उदायुधाः

सुपर्णमुन्नद्धफणा इवाहयः ॥ ४ ॥

#### शब्दार्थ

तैः—उनके द्वारा; तिग्म-धारैः—पैनी धार वाले; प्रधने—युद्धभूमि में; शिली-मुखैः—बाण; इतः ततः—इधर-उधर; पुण्य-जनाः—यक्षगण; उपद्रुताः—अत्यन्त क्षुब्ध होकर; तम्—ध्रुव महाराज की ओर; अभ्यधावन्—दौड़े; कुपिताः—क्रुद्ध; उदायुधाः—हथियार उठाये; सुपर्णम्—गरुड़ की ओर; उन्नद्ध-फणाः—फन उठाये; इव—सदृश; अहयः—सर्प।

उन तीखी धारवाले बाणों ने शत्रु-सैनिकों को विचलित कर दिया, और वे प्रायः मूर्च्छित हो

गये। किन्तु ध्रुव महाराज से क्रुद्ध होकर यक्षगण युद्धक्षेत्र में किसी न किसी प्रकार अपने-अपने हथियार लेकर एकत्र हो गये और उन्होंने आक्रमण कर दिया। जिस प्रकार गरुड़ के छेड़ने पर सर्प अपना-अपना फन उठाकर गरुड़ की ओर दौड़ते हैं, उसी प्रकार समस्त यक्ष सैनिक अपने-अपने हथियार उठाये ध्रुव महाराज को जीतने की तैयारी करने लगे।

स तान्पृषत्कैरभिधावतो मृधे  
निकृत्तबाहूरुशिरोधरोदरान् ।  
निनाय लोकं परमर्कमण्डलं  
व्रजन्ति निर्भिद्य यमूर्ध्वरेतसः ॥ ५ ॥

#### शब्दार्थ

सः—वह ( ध्रुव ); तान्—समस्त यक्षों को; पृषत्कैः—अपने बाण से; अभिधावतः—आगे आते हुए; मृधे—युद्धभूमि में; निकृत्त—विलग, छिन्न; बाहु—भुजाएँ; ऊरु—जंघाएँ; शिरः—धर—गर्दन; उदरान्—तथा पेट; निनाय—प्रदान किया; लोकम्—लोक को; परम्—परम; अर्क-मण्डलम्—सूर्य-मण्डल; व्रजन्ति—जाते हैं; निर्भिद्य—भेदते हुए; यम्—जिसको; ऊर्ध्व-रेतसः—ऊर्ध्वरेता ब्रह्मचारी, जो वीर्य स्खलित नहीं करते।

जब ध्रुव महाराज ने यक्षों को आगे बढ़ते देखा तो उन्होंने तुरन्त बाणों को चढ़ा लिया और शत्रुओं को खण्ड-खण्ड कर डाला। शरीरों से बाहु, पाँव, सिर तथा उदर अलग-अलग करके उन्होंने यक्षों को सूर्य-मण्डल के ऊपर स्थित लोकों में भेज दिया, जो केवल श्रेष्ठ ऊर्ध्वरेता ब्रह्मचारियों को प्राप्त हो पाता है।

तात्पर्य : भगवान् या उनके भक्तों द्वारा वध किया जाना अभक्तों के लिए शुभ है। ध्रुव महाराज ने यक्षों का अंधाधुन्ध वध किया था, किन्तु इससे उन्हें ऊर्ध्वरेता ब्रह्मचारियों को प्राप्य लोक की प्राप्ति हुई। जिस प्रकार निर्विशेष ज्ञानी अथवा भगवान् द्वारा वध किये असुर ब्रह्मलोक या सत्यलोक को प्राप्त होते हैं, उसी प्रकार भक्तों द्वारा वध किये गये लोग भी सत्यलोक को जाते हैं। यहाँ पर वर्णित सत्यलोक तक पहुँचने के लिए सूर्यलोक के ऊपर उठना होता है। अतः वध करना सदा ही बुरा नहीं होता। यदि भगवान् द्वारा या उनके भक्त द्वारा, अथवा किसी महान् यज्ञ के लिए वध होता है, तो भगवान् अथवा उनके भक्तों के द्वारा किए गए वध की तुलना में भौतिक वध तथाकथित अहिंसा की तुलना में नगण्य है। यहाँ तक कि जब कोई राजा, अथवा राजसत्ता किसी हत्यारे का वध करती है, तो वह हत्यारे के लिए लाभप्रद है, क्योंकि इससे उसके सारे पाप-बंधन छूट जाते हैं।

इस श्लोक का महत्त्वपूर्ण शब्द ऊर्ध्व-रेतसः है, जिसका अर्थ है ऐसा ब्रह्मचारी जिसका वीर्य कभी भी स्खलित नहीं हुआ हो। वेदों में कहा गया है कि ब्रह्मचर्य इतना आवश्यक है कि भले ही कोई तपस्या या वेदों में बताए गए अनुष्ठान करे या न करे, किन्तु यदि वह शुद्ध ब्रह्मचारी रहता है, तो उसके कारण वह मृत्यु के पश्चात् सत्यलोक को जाता है। सामान्यतः कामी जीवन समस्त सांसारिक क्लेशों की जड़ है। वैदिक सभ्यता में विषयी जीवन पर अनेक प्रकार से अंकुश लगा रहता था। सारी सामाजिक व्यवस्था की सम्पूर्ण जनसंख्या में से केवल गृहस्थों को संयमित काम-भोग करने की अनुमति प्राप्त थी। अन्य सभी काम-भोग से दूर रहते हैं। विशेषकर इस युग के लोग वीर्यधारण करने के लाभ से परिचित नहीं हैं। फलस्वरूप वे नाना प्रकार के भौतिक गुणों में फँसकर केवल जीवन-संघर्ष में लगे रहते हैं। ऊर्ध्व-रेतसः शब्द विशेष रूप से मायावादी संन्यासियों को इंगित करता है, जो तपस्या के कठिन नियमों का पालन करते हैं। भगवद्गीता (८.१६) में भगवान् का कहना है कि भले ही कोई ब्रह्मलोक को क्यों न प्राप्त हो ले, उसे पुनः नीचे आना पड़ता है (आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन)। फलतः वास्तविक मुक्ति तो भक्ति द्वारा ही प्राप्त की जा सकती है, क्योंकि भक्ति से मनुष्य ब्रह्मलोक से भी ऊपर जाता है, जहाँ से वह पुनः नहीं लौटता। मायावादी संन्यासियों को मुक्त होने का गर्व रहता है, किन्तु वास्तविक मुक्ति तब तक प्राप्त नहीं हो सकती जब तक भगवान् की भक्ति करके उनके सम्पर्क में न रहा जाये। कहा गया है—हरिं बिना न सृतिं तरन्ति—कृष्ण की कृपा के बिना किसी को मुक्ति नहीं मिल सकती।

तान्हन्यमानानभिवीक्ष्य गुह्यका-  
 ननागसश्चित्ररथेन भूरिशः ।  
 औत्तानपादिं कृपया पितामहो  
 मनुर्जगादोपगतः सहर्षिभिः ॥ ६ ॥

#### शब्दार्थ

तान्—उन यक्षों को; हन्यमानान्—मरे हुए; अभिवीक्ष्य—देखकर; गुह्यकान्—यक्षगण; अनागसः—पाप-रहित; चित्र-रथेन—ध्रुव महाराज द्वारा, जिनके पास सुन्दर रथ था; भूरिशः—अत्यधिक; औत्तानपादिम्—उत्तानपाद के पुत्र को; कृपया—कृपा से; पिता-महः—बाबा; मनुः—स्वायंभुव मनु ने; जगाद—उपदेश दिया; उपगतः—पास जाकर; सह-ऋषिभिः—ऋषियों सहित।

जब स्वायंभुव मनु ने देखा कि उनका पौत्र ध्रुव ऐसे अनेक यक्षों का वध कर रहा है, जो वास्तव में अपराधी नहीं हैं, तो वे करुणावश ऋषियों को साथ लेकर ध्रुव के पास उन्हें सदुपदेश

देने गये ।

**तात्पर्य :** ध्रुव महाराज ने यक्षों की पुरी अलकापुरी पर इसलिए आक्रमण कर दिया था, क्योंकि उनमें से किसी यक्ष ने उनके भाई का वध कर दिया था। वास्तव में समस्त निवासी उनके भाई उत्तम का वध करने के लिए उत्तरदायी न थे, क्योंकि वध तो एक ही यक्ष ने किया था। किन्तु यक्षों द्वारा अपने भाई का वध होने से ध्रुव महाराज ने गम्भीर कार्यवाही की थी। युद्ध घोषित हो गया था और लड़ाई चल रही थी। आज के समय में भी कभी कभी ऐसा होता है, क्योंकि एक व्यक्ति की त्रुटि के कारण कभी-कभी सारे राज्य पर धावा बोल दिया जाता है। मनुष्य जाति के पिता तथा विधि-निर्माता मनु ने ऐसे सामूहिक धावे की अनुमति नहीं दी है। इसलिए वे चाहते थे कि उनका पौत्र यक्षों को न मारे, क्योंकि वे अपराधी नहीं थे।

मनुरुवाच

अलं वत्सातिरोषेण तमोद्वारेण पाप्मना ।

येन पुण्यजनानेतानवधीस्त्वमनागसः ॥ ७ ॥

**शब्दार्थ**

मनुः उवाच—मनु ने कहा; अलम्—बहुत हुआ, बस; वत्स—मेरे बालक; अतिरोषेण—अत्यन्त क्रोधपूर्वक; तमः-द्वारेण—अज्ञान का मार्ग; पाप्मना—पापी; येन—जिससे; पुण्य-जनान्—यक्षगण; एतान्—ये सब; अवधीः—तुम्हारे द्वारा मारे गये; त्वम्—तुम; अनागसः—निरपराध।

श्री मनु ने कहा : हे पुत्र, बस करो। वृथा क्रोध करना अच्छा नहीं—यह तो नारकीय जीवन का मार्ग है। अब तुम यक्षों को मार कर अपनी सीमा से परे जा रहे हो, क्योंकि ये वास्तव में अपराधी नहीं हैं।

**तात्पर्य :** इस श्लोक में *अतिरोषेण* शब्द का अर्थ है, “अनावश्यक क्रोध से।” जब ध्रुव महाराज सम्यक क्रोध की सीमा लाँघ गये तो उनके पितामह स्वायंभुव मनु उन्हें आगे पापकर्म करने से बचाने के लिए तुरन्त वहाँ आये। इससे हम समझ सकते हैं कि वध करना बुरा नहीं है, किन्तु जब वृथा ही वध किया जाये, अथवा जब अपराध-रहित व्यक्ति को मार दिया जाये तो ऐसे वध से नरक का मार्ग खुलता है। महान् भक्त होने के कारण ध्रुव महाराज ऐसे पाप-कर्म से बचा लिए गये।

क्षत्रिय को राज्य में शान्ति तथा व्यवस्था कायम रखने के लिए वध करने की अनुमति दी गई है;

उसे अकारण वध करने या हिंसा करने की छूट प्राप्त नहीं है। हिंसा से नारकीय जीवन का मार्ग प्रशस्त होता है, किन्तु राज्य में शान्ति-व्यवस्था बनाये रखने के लिए यह आवश्यक भी है। यहाँ पर मनु ने ध्रुव महाराज को यक्षों का वध करने से रोका क्योंकि उनमें से केवल एक ही उनके भाई उत्तम की हत्या के लिए दण्डनीय था, सभी यक्ष-नागरिक दण्डनीय नहीं थे। किन्तु हम देखते हैं कि आधुनिक युद्ध पद्धति में निर्दोष नागरिकों पर आक्रमण किये जाते हैं। मनु के नियमानुसार ऐसी युद्ध-पद्धति अत्यन्त पापपूर्ण है। यही नहीं, इस समय सभ्य राष्ट्रों द्वारा वृथा ही निर्दोष पशुओं को मारने के लिए अनेक कसाईघर चलाये जा रहे हैं। जब किसी राष्ट्र पर शत्रु आक्रमण करते हैं, तो नागरिकों का जन-संहार उनके अपने पापकर्मों का फल माना जाना चाहिए। यही प्रकृति का नियम है।

नास्मत्कुलोचितं तात कर्मैतत्सद्विगर्हितम् ।

वधो यदुपदेवानामारब्धस्तेऽकृतैनसाम् ॥ ८ ॥

#### शब्दार्थ

न—नहीं; अस्मत्-कुल—हमारे कुल के लिए; उचितम्—उचित, उपयुक्त; तात—मेरे पुत्र; कर्म—कर्म; एतत्—यह; सत्—साधु पुरुष; विगर्हितम्—वर्जित; वधः—हत्या; यत्—जो; उपदेवानाम्—यक्षों का; आरब्धः—किया गया; ते—तुम्हारे द्वारा; अकृत-एनसाम्—पाप-विहीनों अथवा निर्दोषों का।

हे पुत्र, तुम निर्दोष यक्षों का जो यह वध कर रहे हो वह न तो अधिकृत पुरुषों द्वारा स्वीकार्य है और न यह हमारे कुल को शोभा देनेवाला है क्योंकि तुमसे आशा की जाती है कि तुम धर्म तथा अधर्म के विधानों को जानो।

नन्वेकस्यापराधेन प्रसङ्गाद्बहवो हताः ।

भ्रातुर्वधाभितप्तेन त्वयाङ्ग भ्रातृवत्सल ॥ ९ ॥

#### शब्दार्थ

ननु—निश्चय ही; एकस्य—एक ( यक्ष ) के; अपराधेन—अपराध से; प्रसङ्गात्—संगति से; बहवः—अनेक; हताः—मारे गये; भ्रातुः—अपने भाई की; वध—मृत्यु से; अभितप्तेन—शोक से; त्वया—तुम्हारे द्वारा; अङ्ग—हे पुत्र; भ्रातृ-वत्सल—अपने भाई के प्रिय।

हे पुत्र, यह सिद्ध हो चुका है कि तुम अपने भाई के प्रति कितने वत्सल हो और यक्षों द्वारा उसके मारे जाने से तुम कितने सन्तप्त हो, किन्तु जरा सोचो तो कि केवल एक यक्ष के अपराध के कारण तुमने कितने अन्य निर्दोष यक्षों का वध कर दिया है।

नायं मार्गो हि साधूनां हृषीकेशानुवर्तिनाम् ।  
यदात्मानं परागृह्य पशुवद्भूतवैशसम् ॥ १० ॥

#### शब्दार्थ

न—नहीं; अयम्—यह; मार्गः—रास्ता; हि—निश्चय ही; साधूनाम्—भले पुरुषों का; हृषीकेश—भगवान् के; अनुवर्तिनाम्—पथ का अनुगमन करते; यत्—जो; आत्मानम्—स्वयं; पराक्—शरीर; गृह्य—मानकर; पशु-वत्—पशुओं के तुल्य; भूत—जीवात्माओं का; वैशसम्—वध ।

मनुष्य को चाहिए कि वह शरीर को आत्मा न माने और इस प्रकार पशुओं की भाँति अन्यो का वध न करे। भगवान् की भक्ति के पथ का अनुसरण करनेवाले साधु पुरुषों ने इसे विशेष रूप से वर्जित किया है।

तात्पर्य : साधूनां हृषीकेशानुवर्तिनाम् शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। आखिर साधु पुरुष कौन है? साधु पुरुष वह है, जो भगवान् हृषीकेश की सेवा के पथ का अनुसरण करता है। नारद-पञ्चरात्र में कहा गया है कि हृषीकेण हृषीकेशसेवनं भक्तिरुच्यते—अपनी इन्द्रियों द्वारा भगवान् की समुचित सेवा करने की विधि भक्ति कहलाती है। अतः जो व्यक्ति पहले से भगवान् की भक्ति में लगा है, वह इन्द्रिय-तृप्ति में आखिर क्यों प्रवृत्त हो? यहाँ पर मनु ने ध्रुव महाराज को उपदेश दिया है कि वे भगवान् के शुद्ध दास हैं, तो फिर वे वृथा पशुओं की तरह देहात्मबुद्धि में क्यों प्रवृत्त हो रहे हैं? एक पशु सोचता है कि दूसरा पशु उसका आहार है, अतः देहात्मबुद्धिवश एक पशु दूसरे पर आक्रमण करता है। मनुष्य को, और विशेष रूप से भक्त को ऐसा नहीं करना चाहिए। साधु सदृश किसी भक्त को पशुओं का वृथा वध नहीं करना चाहिए।

सर्वभूतात्मभावेन भूतावासं हरिं भवान् ।  
आराध्याप दुराराध्यं विष्णोस्तत्परमं पदम् ॥ ११ ॥

#### शब्दार्थ

सर्व-भूत—समस्त जीवात्माओं में; आत्म—परमात्मा के ऊपर; भावेन—ध्यान से; भूत—समस्त संसार का; आवासम्—घर; हरिम्—भगवान् हरि; भवान्—आप; आराध्य—पूजा करके; आप—प्राप्त कर लिया है; दुराराध्यम्—जिनकी आराधना करना कठिन है; विष्णोः—भगवान् विष्णु के; तत्—उस; परमम्—परम; पदम्—स्थान या, स्थिति को।

वैकुण्ठलोक में हरि के धाम को प्राप्त करना अत्यन्त दुष्कर है; किन्तु तुम इतने भाग्यशाली हो कि समस्त जीवात्माओं के परमधाम भगवान् की पूजा द्वारा तुम्हारा उस धाम को जाना निश्चित

हो चुका है।

**तात्पर्य :** समस्त जीवात्माओं के भौतिक शरीर तब तक विद्यमान नहीं रह सकते, जब तक उनमें आत्मा तथा परमात्मा का वास न हो। आत्मा परमात्मा पर निर्भर है, जो परमाणु में भी उपस्थित है। अतः प्रत्येक वस्तु के चाहे वह भौतिक हो अथवा आध्यात्मिक, भगवान् पर निर्भर रहने के कारण भगवान् को *भूतावास* कहा गया है। जब मनु ने यह युद्ध बन्द करने के लिए कहा तो क्षत्रिय होने के नाते ध्रुव महाराज अपने पितामह मनु से तर्क कर सकते थे, किन्तु ऐसा होने पर भी उन्हें यह सूचित किया गया कि चूँकि प्रत्येक जीवात्मा भगवान् का धाम है, अतः मन्दिर तुल्य होने से किसी भी जीव की व्यर्थ हत्या की अनुमति नहीं दी जा सकती।

स त्वं हरेरनुध्यातस्तत्पुंसामपि सम्मतः ।

कथं त्ववद्यं कृतवाननुशिक्षन्सतां व्रतम् ॥ १२ ॥

#### शब्दार्थ

सः—वह व्यक्ति; त्वम्—तुम; हरेः—परमेश्वर द्वारा; अनुध्यातः—सदैव स्मरण किया जाकर; तत्—उसका; पुंसाम्—भक्तों द्वारा; अपि—भी; सम्मतः—पूज्य; कथम्—क्यों; तु—तब; अवद्यम्—निन्दनीय (कार्य); कृतवान्—किया गया; अनुशिक्षन्—दृष्टान्त उपस्थित करके; सताम्—साधु पुरुषों का; व्रतम्—व्रत।

भगवान् के शुद्ध भक्त होने के कारण भगवान् सदैव तुम्हारे बारे में सोचते रहते हैं और तुम भी उनके सभी परम विश्वस्त भक्तों द्वारा मान्य हो। तुम्हारा जीवन आदर्श आचरण के निमित्त है। अतः मुझे आश्चर्य हो रहा है कि तुमने ऐसा निन्दनीय कार्य कैसे किया।

**तात्पर्य :** ध्रुव महाराज शुद्ध भक्त होने के कारण भगवान् का चिन्तन करने के अभ्यस्त थे। भगवान् भी बदले में उन शुद्ध भक्तों के लिए सोचते रहते हैं, जो चौबीसों घंटे उन्हीं का चिन्तन करते हैं। जिस प्रकार शुद्ध भक्त भगवान् के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं जानता, उसी प्रकार भगवान् भी अपने शुद्ध भक्तों को छोड़कर और कुछ नहीं जानते। स्वायंभुव मनु ने इस तथ्य की ओर ध्रुव का ध्यान आकर्षित किया—“तुम न केवल शुद्ध भक्त हो, वरन् भगवान् के समस्त शुद्ध भक्तों द्वारा मान्य हो। तुम्हें सदैव ऐसे आदर्श ढंग से कार्य करना चाहिए कि दूसरे तुमसे सीख ले सकें। ऐसी परिस्थिति में यह आश्चर्यजनक है कि तुमने इतने सारे निर्दोष यक्षों का वध कर डाला है।”

तितिक्षया करुणया मैत्र्या चाखिलजन्तुषु ।  
समत्वेन च सर्वात्मा भगवान्सम्प्रसीदति ॥ १३ ॥

### शब्दार्थ

तितिक्षया—सहनशीलता से; करुणया—दया से; मैत्र्या—मैत्री से; च—भी; अखिल—समस्त; जन्तुषु—जीवात्माओं के; समत्वेन—समता से; च—भी; सर्व—आत्मा—परमात्मा; भगवान्—भगवान्; सम्प्रसीदति—प्रसन्न हो जाता है।

भगवान् अपने भक्तों से तब अत्यधिक प्रसन्न होते हैं जब वे अन्य लोगों के साथ सहिष्णुता, दया, मैत्री तथा समता का बर्ताव करते हैं।

तात्पर्य : भक्ति की सिद्धि की द्वितीयावस्था में विद्वान् भक्त का कर्तव्य है कि वह इस श्लोक के अनुसार कार्य करे। भक्तिमय जीवन की तीन अवस्थाएँ होती हैं। सबसे निचली अवस्था में भक्त का एकमात्र लगाव मन्दिर के देव से होता है, वह अत्यन्त भक्तिभाव से विधिपूर्वक भगवान् की पूजा करता है। द्वितीय अवस्था में भक्त को भगवान् से, अपने भक्त मित्रों से, निर्दोष व्यक्तियों से तथा ईर्ष्यालु पुरुषों से अपने सम्बन्धों का बोध हो जाता है। कभी-कभी ईर्ष्यालु व्यक्ति भक्तों के साथ दुर्व्यवहार करते हैं। यहाँ यह सलाह दी गई है कि सिद्धभक्त सहिष्णु हो और अज्ञानियों अथवा निर्दोष व्यक्तियों पर वह पूर्ण दया-भाव प्रदर्शित करे। उपदेशक भक्त को निर्दोष व्यक्तियों पर दया दिखानी पड़ती है, क्योंकि उन्हें वह भक्ति तक ऊँचे उठा सकता है। प्रत्येक व्यक्ति स्वाभाविक स्थिति में ईश्वर का चिरन्तनदास है। अतः भक्त का कार्य है कि प्रत्येक व्यक्ति में कृष्णचेतना जाग्रत करे। यह उसकी कृपा है। जहाँ तक समान भक्तों के साथ एक भक्त के व्यवहार का प्रश्न है, उसे उनके साथ मित्रता रखनी चाहिए। उसे प्रत्येक जीवात्मा को सामान्यतः परमेश्वर का अंश रूप देखना चाहिए। विभिन्न जीवात्माएँ विभिन्न वेश-भूषा में प्रकट होती हैं, किन्तु *भगवद्गीता* के उपदेशानुसार विद्वान् पुरुष समस्त जीवात्माओं को एकसमान देखता है। भगवान् को भक्तों का यह आचरण अत्यन्त प्रिय है। इसीलिए कहा जाता है कि साधु पुरुष सदैव सहिष्णु और दयालु होता है, वह प्रत्येक जीव का मित्र होता है, वह किसी का भी शत्रु नहीं होता और वह शान्त रहता है। ये ही भक्त के कतिपय सद्गुण हैं।

सम्प्रसन्ने भगवति पुरुषः प्राकृतैर्गुणैः ।  
विमुक्तो जीवनिर्मुक्तो ब्रह्म निर्वाणमृच्छति ॥ १४ ॥

### शब्दार्थ

सम्प्रसन्ने—प्रसन्न होने पर; भगवति—भगवान् के; पुरुषः—पुरुष; प्राकृतैः—भौतिक; गुणैः—प्रकृति के गुणों से; विमुक्तः—मुक्त हुए; जीव-निर्मुक्तः—सूक्ष्म शरीर से भी मुक्त; ब्रह्म—अनन्त; निर्वाणम्—आत्म-आनन्द; ऋच्छति—प्राप्त करता है।

जो मनुष्य अपने जीवनकाल में भगवान् को सचमुच प्रसन्न कर लेता है, वह स्थूल तथा सूक्ष्म भौतिक परिस्थितियों से मुक्त हो जाता है। इस प्रकार समस्त भौतिक गुणों से छूटकर वह अनन्त आत्म-आनन्द प्राप्त करता है।

तात्पर्य : पिछले श्लोक में बताया गया है कि मनुष्य को चाहिए कि समस्त जीवात्माओं से सहिष्णुता, दया, मित्रता तथा समता का व्यवहार करे। ऐसे व्यवहार से वह भगवान् को प्रसन्न कर लेता है और उनके प्रसन्न होते ही भक्त समस्त भौतिक दशाओं से तुरन्त मुक्त हो जाता है। *भगवद्गीता* में भगवान् ने भी इसकी पुष्टि की है, “जो निष्ठापूर्वक तथा गम्भीरतापूर्वक मेरी सेवा करता है, वह तुरन्त ही दिव्य अवस्था को प्राप्त होता है, जहाँ उसे अपार आत्मसुख प्राप्त हो सकता है।” इस जगत में आनन्दमय जीवन की प्राप्ति के लिए प्रत्येक व्यक्ति कठिन संघर्ष कर रहा है। दुर्भाग्यवश लोग इसे प्राप्त करना नहीं जानते। नास्तिक जन ईश्वर में विश्वास नहीं करते और निश्चित ही वे उन्हें प्रसन्न नहीं करते हैं। यहाँ यह स्पष्ट किया गया है कि भगवान् को प्रसन्न करने पर मनुष्य को आत्म-पद प्राप्त हो सकता है, जहाँ वह अपार आनन्दमय जीवन का भोग करता है। भौतिक जगत से मुक्त होने का अर्थ है भौतिक प्रकृति के प्रभाव से मुक्त होना।

इस श्लोक में प्रयुक्त *सम्प्रसन्ने* शब्द का अर्थ है, “प्रसन्न होने पर।” मनुष्य को ऐसा कार्य करना चाहिए कि भगवान् इस कार्य से प्रसन्न हों; उसे स्वयं प्रसन्न नहीं होना है। वस्तुतः जब भगवान् प्रसन्न हो जाते हैं, तो भक्त स्वतः तुष्ट हो जाता है। भक्तियोग प्रक्रिया का यही रहस्य है। भक्तियोग से बाहर प्रत्येक व्यक्ति अपने आपको तुष्ट करने में लगा है। कोई भी भगवान् को प्रसन्न करने का प्रयास नहीं करता। कर्मी स्थूल रूप से अपनी इन्द्रियों को तुष्ट करना चाहते हैं, किन्तु जो ज्ञानी हैं, वे भी सूक्ष्म रूप से अपने आपको ही सन्तुष्ट करने में लगे रहते हैं। कर्मी अपने आपको इन्द्रियतृप्ति द्वारा तथा ज्ञानी सूक्ष्म कर्मों या मानसिक चिन्तन द्वारा, तथा स्वयं को ईश्वर सोचकर तुष्ट करते हैं। योगी भी वह सोचकर अपने को तुष्ट करना चाहते हैं कि वे तरह-तरह की योग-सिद्धियाँ प्राप्त कर सकते हैं। किन्तु केवल भक्त ही भगवान् को प्रसन्न करने का प्रयास करते हैं। किन्तु भक्त द्वारा आत्म-साक्षात्कार की विधि

कर्मियों तथा ज्ञानियों योगियों की विधियों से सर्वथा भिन्न होती है। जहाँ प्रत्येक प्राणी आत्मतुष्टि में लगा हुआ है, वहीं पर भक्त केवल भगवान् को तुष्ट करने का प्रयत्न करता है। भक्ति की विधि अन्यो से सर्वथा भिन्न है; भक्त अपनी इन्द्रियों को भगवान् की सेवा में लगाकर भगवान् को प्रसन्न करने के कारण तुरन्त दिव्य पद को प्राप्त होता है और असीम आनन्दमय जीवन भोगता है।

**भूतैः पञ्चभिरारब्धैर्योषित्पुरुष एव हि ।**

**तयोर्व्यवायात्सम्भूतैर्योषित्पुरुषयोरिह ॥ १५ ॥**

### शब्दार्थ

भूतैः—भौतिक तत्त्वों द्वारा; पञ्चभिः—पाँच; आरब्धैः—प्रारम्भ की गई; योषित्—स्त्री; पुरुषः—पुरुष; एव—की तरह; हि—निश्चय ही; तयोः—उनके; व्यवायात्—विषयी जीवन द्वारा; सम्भूतिः—पुनः सृष्टि; योषित्—स्त्रियों की; पुरुषयोः—तथा पुरुषों की; इह—इस जगत में।

भौतिक जगत की सृष्टि पाँच तत्त्वों से प्रारम्भ होती है और इस तरह प्रत्येक वस्तु, जिसमें पुरुष अथवा स्त्री का शरीर भी सम्मिलित है, इन तत्त्वों से उत्पन्न होती है। पुरुष तथा स्त्री के विषयी जीवन ( समागम ) से इस जगत में पुरुषों तथा स्त्रियों की संख्या में और वृद्धि होती है।

तात्पर्य : जब स्वायंभुव मनु ने देखा कि ध्रुव महाराज वैष्णव दर्शन को समझते हुए भी अपने भाई की मृत्यु के कारण असंतुष्ट हैं, तो उन्होंने यह व्याख्या की कि किस प्रकार भौतिक प्रकृति के पाँच तत्त्वों से इस भौतिक देह की रचना होती है। *भगवद्गीता* में इसकी पुष्टि हुई है—*प्रकृतेः क्रियमाणानि—प्राकृतिक गुणों के द्वारा ही प्रत्येक वस्तु का सृजन, पालन और संहार होता है। निस्सन्देह, इन सबके पीछे भगवान् का निर्देश रहता है। इसकी भी पुष्टि भगवद्गीता में हुई है ( मयाध्यक्षेण )।* नवें अध्याय में कृष्ण कहते हैं; “मेरी अध्यक्षता में भौतिक प्रकृति क्रियाशील रहती है।” स्वायंभुव मनु ध्रुव महाराज को यह बता देना चाह रहे थे कि उनके भाई के शरीर की मृत्यु के लिए वास्तव में यक्ष दोषी नहीं थे; वह तो भौतिक प्रकृति का कार्य था। भगवान् में अनेक प्रकार की शक्तियाँ होती हैं और ये अनेक प्रकार से सूक्ष्म तथा स्थूल रूप में कार्य करती हैं।

ऐसी ही प्रबल शक्तियों से इस ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति की जाती है यद्यपि स्थूल रूप में इसमें पाँच तत्त्वों क्षिति, जल, पावक, गगन तथा वायु के अतिरिक्त और कुछ नहीं दिखता। इसी प्रकार समस्त योनियाँ, चाहे वे मनुष्य हों अथवा देवता, पशु हों या पक्षी, उनकी देहें भी इन्हीं पाँच तत्त्वों से उत्पन्न

की जाती हैं और फिर मैथुन द्वारा और अधिक जीवों में बढ़ती जाती हैं। यही सृष्टि, पालन तथा संहार का विधान है। इस विधि में भौतिक प्रकृति की तरंगों से किसी को विचलित नहीं होना चाहिए। अप्रत्यक्ष रीति से ध्रुव महाराज को उपदेश दिया जा रहा था कि वे अपने भाई की मृत्यु से दुखी न हों, क्योंकि शरीर के साथ हमारा सम्बन्ध सर्वथा भौतिक है। वास्तविक स्व अर्थात् आत्मा का न तो विनाश होता है, न ही किसी के द्वारा उसका वध होता है।

एवं प्रवर्तते सर्गः स्थितिः संयम एव च ।

गुणव्यतिकराद्राजन्मायया परमात्मनः ॥ १६ ॥

### शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; प्रवर्तते—घटित होता है; सर्गः—सृष्टि; स्थितिः—पालन; संयमः—प्रलय; एव—निश्चय ही; च—तथा; गुण—गुणों की; व्यतिकरात्—पारस्परिक क्रिया से; राजन्—हे राजा; मायया—माया द्वारा; परम-आत्मनः—भगवान् की।

मनु ने आगे कहा : हे राजा ध्रुव, भगवान् की मोहमयी भौतिक शक्ति के द्वारा तथा भौतिक प्रकृति के तीनों गुणों की पारस्परिक क्रिया से ही सृष्टि, पालन तथा संहार होता रहता है।

**तात्पर्य :** पहले प्रकृति के पाँच तत्त्वों से उत्पत्ति होती है, फिर गुणों की अन्यान्य क्रिया से स्थिति (पालन) होती है। जब बालक उत्पन्न होता है, तो माता-पिता तुरन्त उसके पालन की व्यवस्था करते हैं। सन्तान के पालन की यह प्रवृत्ति न केवल मानव समाज में पाई जाती है, वरन् पशु-समाज में भी पाई जाती है। बाघ भी अपने शिशुओं की देख-रेख करते हैं, यद्यपि उनमें अन्य पशुओं को खाने की जन्मजात प्रवृत्ति होती है। गुणों की अन्यान्य क्रिया से उत्पत्ति, पालन तथा संहार अवश्यम्भावी हैं। किन्तु हमें यह जानना चाहिए कि यह सब कुछ भगवान् की अध्यक्षता में घटित होता है। इसी विधि से सब कुछ हो रहा है। उत्पत्ति तो रजोगुण का कार्य है, पालन सतोगुण का और संहार तमोगुण का। हम यह देख सकते हैं कि जो सतोगुणी है, वह रजोगुणी या तमोगुणी की तुलना में अधिक काल तक जीवित रहता है। इसका अर्थ यह हुआ कि जो सतोगुणी हो जाता है, वह उच्च लोक को जाता है, जहाँ उसका आयुष्य बढ़ जाता है। ऊर्ध्व गच्छन्ति सत्त्वस्थाः—बड़े बड़े ऋषि, मुनि तथा संन्यासी, जो कि सतोगुणी होते हैं उच्च लोक को जाते हैं। जो गुणों से परे हैं, वे भी सतोगुणी होते हैं और वे वैकुण्ठलोक में शाश्वत जीवन प्राप्त करते हैं।

निमित्तमात्रं तत्रासीन्निर्गुणः पुरुषर्षभः ।

व्यक्ताव्यक्तमिदं विश्वं यत्र भ्रमति लोहवत् ॥ १७ ॥

#### शब्दार्थ

निमित्त-मात्रम्—दूरस्थ कारण; तत्र—तब; आसीत्—था; निर्गुणः—कल्मषरहित; पुरुष-ऋषभः—परम पुरुष; व्यक्त—प्रकट; अव्यक्तम्—अप्रकट; इदम्—यह; विश्वम्—जगत; यत्र—जहाँ; भ्रमति—घूमता है; लोह-वत्—लोहे के समान ।

हे ध्रुव, भगवान् प्रकृति के गुणों के द्वारा कलुषित नहीं होते। वे इस भौतिक दृश्य जगत की उत्पत्ति के दूरस्थ कारण ( निमित्त ) हैं। उनकी प्रेरणा से अन्य अनेक कारण तथा कार्य उत्पन्न होते हैं और तब यह सारा ब्रह्माण्ड उसी प्रकार घूमता है जैसे कि लोहा चुम्बक की संचित शक्ति से घूमता है।

**तात्पर्य :** इस श्लोक में यह बताया गया है कि इस जगत के भीतर भगवान् की बहिरंगा शक्ति किस प्रकार कार्यशील होती है। सब कुछ परमेश्वर की शक्ति से घटित होता है। नास्तिकवादी विचारक, जो भगवान् को सृष्टि का आदि कारण नहीं मानते, सोचते हैं कि यह जगत विभिन्न भौतिक तत्त्वों की क्रिया-प्रतिक्रियावश चालित होता है। तत्त्वों की अन्योन्य क्रिया का सरल उदाहरण हमें तब प्राप्त होता है जब हम सोडा तथा अम्ल को मिलाते हैं, तो झाग उत्पन्न होता है। किन्तु इस प्रकार रसायनों की प्रतिक्रिया से जीवन तो उत्पन्न नहीं किया जा सकता! जीवन की चौरासी लाख योनियाँ हैं जिनकी इच्छाएँ तथा कार्य भिन्न-भिन्न हैं। केवल रासायनिक प्रतिक्रिया के आधार पर कार्यशील भौतिक शक्ति की व्याख्या नहीं की जा सकती। इस प्रसंग में कुम्हार तथा उसके चाक का उदाहरण उपयुक्त होगा। जब चाक घूमता है, तो अनेक प्रकार के मिट्टी के पात्र निर्मित होते हैं। इन पात्रों के अनेक कारण हो सकते हैं, किन्तु मूल कारण तो कुम्हार है, जो चक्र को शक्ति प्रदान करता है। यह शक्ति उसकी अध्यक्षता से आती है। *भगवद्गीता* में इसी विचार की इस प्रकार व्याख्या की गई है—समस्त कार्य तथा कारण के पीछे भगवान् कृष्ण हैं। कृष्ण का कथन है कि उनकी शक्ति पर ही सब कुछ आश्रित है; फिर भी वे सर्वत्र नहीं हैं। मिट्टी का पात्र भौतिक शक्ति के किन्हीं कार्य-कारण की अवस्थाओं के अन्तर्गत बनता है। किन्तु कुम्हार तो पात्र में नहीं होता। इसी प्रकार, भौतिक उत्पत्ति भगवान् द्वारा की जाती है, किन्तु वे सर्वथा पृथक् रहते हैं। जैसाकि वेदों का कथन है—उन्होंने मात्र उसके ऊपर नजर

डाली और द्रव्य का विक्षोभ तुरन्त चालू हो गया।

भगवद्गीता में यह भी कहा गया है कि भगवान् भौतिक शक्ति को अपने अंश जीवों से संपृक्त कर देते हैं जिससे विभिन्न रूपों तथा विभिन्न कार्यों का सूत्रपात होता है। जीव-आत्मा की विभिन्न इच्छाओं तथा कर्मों के कारण विभिन्न योनियों में भिन्न-भिन्न शरीर उत्पन्न होते हैं। डार्विन के सिद्धान्त में जीव-आत्मा को स्वीकार नहीं किया जाता है। अतः उनके विकास की व्याख्या अधूरी है। तीनों गुणों के कार्य-कारण के फलस्वरूप विश्व में अनेक घटनाएँ घटती हैं, किन्तु उनका आदि कारण स्रष्टा या भगवान् ही हैं, जिन्हें यहाँ पर *निमित्त-मात्रम्* अर्थात् दूरस्थ कारण कहा गया है। वे अपनी शक्ति को—चक्र को—मात्र धक्का देते हैं। मायावादी चिन्तकों के अनुसार परब्रह्म ने अपने आपको अनेक रूपों में परिवर्तित कर रखा है, किन्तु तथ्य यह नहीं है। वे भौतिक गुणों के कार्य-कारण से सदा परे रहते हैं यद्यपि वे समस्त कारणों के कारण हैं। अतः *ब्रह्म-संहिता* (५.१) में ब्रह्मा कहते हैं—

*ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः ।*

*अनादिरादिर्गोविन्दः सर्वकारणकारणम् ॥*

वैसे तो अनेक कार्य-कारण हैं, किन्तु आदि कारण तो कृष्ण ही हैं।

स खल्विदं भगवान्कालशक्त्या

गुणप्रवाहेण विभक्तवीर्यः ।

करोत्यकर्तैव निहन्त्यहन्ता

चेष्टा विभूम्नः खलु दुर्विभाव्या ॥ १८ ॥

#### शब्दार्थ

सः—वह; खलु—फिर भी; इदम्—यह ( ब्रह्माण्ड ); भगवान्—भगवान्; काल—समय की; शक्त्या—शक्ति से; गुण-प्रवाहेण—गुणों की अन्योन्य क्रिया से; विभक्त—विभाजित; वीर्यः—( जिसकी ) शक्तियाँ; करोति—प्रभाव डालता है; अकर्ता—न करनेवाला; एव—यद्यपि; निहन्ति—मारता है; अहन्ता—न मारनेवाला; चेष्टा—शक्ति; विभूम्नः—भगवान् की; खलु—निश्चय ही; दुर्विभाव्या—अचिन्तनीय।

भगवान् अपनी अचिन्त्य काल-रूप परम शक्ति से प्रकृति के तीनों गुणों में अन्योन्य क्रिया उत्पन्न करते हैं जिससे नाना प्रकार की शक्तियाँ प्रकट होती हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि वे कार्यशील हैं, किन्तु वे कर्ता नहीं हैं। वे संहार तो करते हैं, किन्तु संहारकर्ता नहीं हैं। अतः यह माना जाता है कि केवल उनकी अचिन्तनीय शक्ति से सब कुछ घट रहा है।

**तात्पर्य :** *दुर्विभाव्या* शब्द का अर्थ “हमारे लघु मस्तिष्क द्वारा अकल्पनीय” और *विभक्तवीर्यः* का अर्थ “विभिन्न शक्तियों में विभाजित” है। भौतिक जगत में सृजनात्मक शक्तियों के प्राकट्य की यह सही विवेचना है। एक उदाहरण के द्वारा हम ईश्वर की कृपा को ठीक से समझ सकते हैं—शासन-सत्ता को दयालु होना चाहिए, किन्तु कभी-कभी शान्ति तथा व्यवस्था बनाये रखने के लिए पुलिस लगानी पड़ती है और जो विद्रोह करते हैं उन्हें दण्ड दिया जाता है। इसी प्रकार भगवान् सदैव दयालु हैं तथा दिव्य गुणों से युक्त हैं, किन्तु कुछ जीव कृष्ण से अपने सम्बन्ध को भूल कर भौतिक प्रकृति पर अपना प्रभुत्व जताना चाहते हैं। अपने प्रयत्न के फलस्वरूप वे अनेक भौतिक अन्तक्रियाओं में फँस जाते हैं। किन्तु यह तर्क देना ठीक नहीं होगा कि शक्ति भगवान् से प्रकट होती है, इसीलिए वही कर्ता हैं। पिछले श्लोक में *निमित्तमात्रम्* शब्द इंगित करता है कि भगवान् इस भौतिक जगत के कार्य-करण से सर्वथा पृथक् रहते हैं। तो फिर सब कुछ कैसे चल रहा है? इसके लिए *दुर्विभाव्य* (अकल्पनीय) शब्द प्रयुक्त हुआ है। हमारे छोटे से मस्तिष्क में इतनी शक्ति कहाँ कि हम यह सब समझ सकें। जब तक भगवान् की शक्ति को अचिन्त्य अथवा अकल्पनीय नहीं मान लिया जाता, तब तक किसी तरह की उन्नति कर पाना सम्भव नहीं है। जो शक्तियाँ कार्य करती हैं, वे श्रीभगवान् द्वारा ही चालू की जाती हैं, किन्तु वे उनके कार्य-कारण से सदैव पृथक् (भिन्न) रहते हैं। भौतिक प्रकृति की अन्योन्य क्रिया से उत्पन्न नाना प्रकार की शक्तियाँ नानाविध योनियों तथा फलस्वरूप मिलने वाले सुख एवं दुख को उत्पन्न करती हैं।

भगवान् जिस प्रकार से कर्म करते हैं उसकी सुन्दर विवेचना *विष्णु पुराण* में मिलती है—अग्नि एक स्थान पर रहती है, किन्तु उसकी गर्मी तथा प्रकाश भिन्न-भिन्न प्रकार से कार्य करते रहते हैं। दूसरा उदाहरण बिजली-घर का है, जो एक स्थान पर स्थित होता है, किन्तु उसकी शक्ति से नाना प्रकार की मशीनें चलती हैं। उत्पादन कभी भी शक्ति के मूल स्रोत से एकरूप नहीं होता, किन्तु शक्ति का मूल स्रोत मुख्य कारण होने से उत्पादन से एकरूप है और साथ ही उससे पृथक् भी। अतः ज्ञान का सही मार्ग भगवान् चैतन्य का दर्शन *अचिन्त्य-भेदाभेद तत्त्व* है। भौतिक जगत में भगवान् ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव इन तीन रूपों में अवतरित होते हैं और ये प्रकृति के तीनों गुणों का भार सम्हालते हैं। ब्रह्मा का

अवतार लेकर वे सृष्टि करते हैं, विष्णु रूप में वे भरण करते हैं और शिव रूप में संहार भी करते हैं। किन्तु इन तीनों के मूल स्रोत गर्भोदकशायी विष्णु भौतिक प्रकृति के कार्य-कारण से अपने को पृथक् रखते हैं।

सोऽनन्तोऽन्तकरः कालोऽनादिरादिकृदव्ययः ।

जनं जनेन जनयन्मारयन्मृत्युनान्तकम् ॥ १९ ॥

#### शब्दार्थ

सः—वह; अनन्तः—अनन्त; अन्त-करः—संहारकर्ता; कालः—काल, समय; अनादिः—जिसका आदि नहीं है; आदि-कृत्—प्रत्येक वस्तु का आदि; अव्ययः—न चुकने वाले; जनम्—जीवात्माएँ; जनेन—जीवात्माओं के द्वारा; जनयन्—उत्पन्न कराकर; मारयन्—मारना; मृत्युना—के द्वारा; अन्तकम्—वधकर्ता।

हे ध्रुव, भगवान् नित्य हैं, किन्तु कालरूप में वे सबों को मारनेवाले हैं। उनका आदि नहीं है, यद्यपि वे हर वस्तु के आदि कर्ता हैं। वे अव्यय हैं, यद्यपि कालक्रम में हर वस्तु चुक जाती है। जीवात्मा की उत्पत्ति पिता के माध्यम से होती है और मृत्यु द्वारा उसका विनाश होता है, किन्तु भगवान् जन्म तथा मृत्यु से सदा मुक्त हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक से भगवान् की परम सत्ता तथा अचिन्त्य शक्ति का सूक्ष्म अध्ययन किया जा सकता है। वे अनन्त हैं, अर्थात् न उनका आदि है, न अन्त, किन्तु वे मृत्यु (समय अथवा काल के रूप में) हैं, जैसाकि *भगवद्गीता* में कृष्ण कहते हैं—मैं मृत्यु हूँ और जीवन के अन्त में मैं सब कुछ ले लेता हूँ। शाश्वत काल भी आदि रहित है, किन्तु वह समस्त प्राणियों का स्रष्टा है। यहाँ पर पारस पत्थर का उदाहरण दिया जाता है, जो अनेक अमूल रत्न बनाता है, किन्तु उसकी शक्ति नहीं घटती। इसी तरह सृष्टि अनेकों बार होती है, प्रत्येक वस्तु का पालन होता है और कुछ काल बाद हर वस्तु का संहार हो जाता है, किन्तु आदि स्रष्टा भगवान् की शक्ति अप्रभावित और अव्यय रहती है। ब्रह्मा द्वारा गौण सृष्टि की जाती है, क्योंकि ब्रह्मा श्रीभगवान् द्वारा उत्पन्न हैं। शिवजी सारी सृष्टि का संहार करते हैं, किन्तु अन्त में वे भी स्वयं भगवान् विष्णु द्वारा विनष्ट कर दिये जाते हैं। केवल भगवान् विष्णु बचे रहते हैं। वैदिक स्तोत्रों में कहा गया है कि आरम्भ में केवल विष्णु थे और अन्त में भी वे ही रहेंगे।

एक उदाहरण द्वारा हमें परमेश्वर की अचिन्त्य शक्ति को समझने में सहायता होगी। युद्धपद्धति के आधुनिक इतिहास में भगवान् ने हिटलर की सृष्टि की और इसके पूर्व नैपोलियन बोनापार्ट की, और

इनमें से प्रत्येक ने युद्ध में अनेक जीवात्माओं का संहार किया। किन्तु अन्त में बोनापार्ट तथा हिटलर दोनों मारे गये। आज भी लोग हिटलर तथा बोनापार्ट के सम्बन्ध में पुस्तकें लिखने तथा पढ़ने के शौकीन हैं और यह जानना चाहते हैं कि उन्होंने युद्ध में इतने लोगों को कैसे मारा। प्रतिवर्ष हिटलर द्वारा बन्दीग्रह में हजारों यहूदियों के वध के सम्बन्ध में जनता के पठनार्थ पुस्तकें प्रकाशित होती रहती हैं। किन्तु कोई इस पर शोध नहीं कर रहा कि हिटलर को किसने मारा और मनुष्यों के इस महान् हत्यारे को किसने उत्पन्न किया? भगवान् के भक्त विश्व के परिवर्तनशील इतिहास का अध्ययन करने में रुचि नहीं दिखाते। वे तो एकमात्र उसमें रुचि रखते हैं, जो आदि स्रष्टा, पालक तथा संहारक है। कृष्णभावनामृत-आन्दोलन का यही उद्देश्य है।

न वै स्वपक्षोऽस्य विपक्ष एव वा  
परस्य मृत्योर्विशतः समं प्रजाः ।  
तं धावमानमनुधावन्त्यनीशा  
यथा रजांस्यनिलं भूतसङ्घाः ॥ २० ॥

#### शब्दार्थ

न—नहीं; वै—फिर भी; स्व-पक्षः—मित्र-पक्ष; अस्य—भगवान् का; विपक्षः—शत्रु; एव—निश्चय ही; वा—अथवा; परस्य—परमेश्वर का; मृत्योः—काल रूप में; विशतः—प्रवेश करता; समम्—समान रूप से; प्रजाः—जीवात्माएँ; तम्—उसको; धावमानम्—चलायमान; अनुधावन्ति—अनुसरण करते हैं; अनीशाः—पराश्रित जीवात्माएँ; यथा—जिस तरह; रजांसि—धूल के कण; अनिलम्—वायु; भूत-सङ्घाः—अन्य भौतिक तत्त्व।

अपने शाश्वत काल रूप में श्रीभगवान् इस भौतिक जगत में विद्यमान हैं और सबों के प्रति समभाव रखनेवाले हैं। न तो उनका कोई मित्र है, न शत्रु। काल की परिधि में हर कोई अपने कर्मों का फल भोगता है। जिस प्रकार वायु के चलने पर क्षुद्र धूल के कण हवा में उड़ते हैं, उसी प्रकार अपने कर्म के अनुसार मनुष्य भौतिक जीवन का सुख भोगता या कष्ट उठाता है।

तात्पर्य : यद्यपि भगवान् समस्त कारणों के आदि कारण हैं, किन्तु किसी के भौतिक सुख या दुख के लिए वे जिम्मेदार नहीं रहते। परमेश्वर ऐसा पक्षपात नहीं करता। अल्पज्ञानी परमेश्वर पर दोष लगाते हैं कि वह पक्षपात करता है, जिससे कुछ लोग इस भौतिक संसार में सुख भोगते हैं और कुछ कष्ट उठाते हैं। किन्तु इस श्लोक से स्पष्ट है कि परमेश्वर ऐसा पक्षपात नहीं करते। हाँ जीवात्माएँ स्वतंत्र नहीं हैं। ज्योंही वे अपने को परम नियन्ता से स्वतंत्र घोषित कर देती हैं, त्योंही वे इस संसार में अपना भाग्य

आजमाने के लिए छोड़ दी जाती हैं। जब यह जगत ऐसी पथभ्रष्ट जीवात्माओं के लिए उत्पन्न किया जाता है, तो वे अपने-अपने कर्म उत्पन्न करती हैं और काल का लाभ उठाकर अपना भाग्य या दुर्भाग्य बनाती हैं। प्रत्येक प्राणी उत्पन्न होता है, उसका पालन होता है और अन्त में मारा जाता है। जहाँ तक इन तीनों बातों का सम्बन्ध है, ईश्वर सबों पर समभाव रखते हैं। अपने-अपने कर्म के अनुसार ही मनुष्य सुख या दुख पाता है। जीवात्मा का उच्च या निम्न पद, तथा उसके सुख तथा दुख उसके अपने कर्मों के फलस्वरूप होते हैं। इस प्रसंग में *अनीशाः* शब्द अत्यन्त उपयुक्त है, जिसका अर्थ है, “अपने अपने कर्मों पर निर्भर।” यहाँ पर उदाहरण दिया गया है कि सरकार हर नागरिक को सरकारी कार्य तथा प्रबन्ध के लिए सुविधाएँ प्रदान करती है, किन्तु मनुष्य अपनी इच्छा से ऐसी स्थिति उत्पन्न करता है, जिससे वह विभिन्न प्रकार की चेतनाओं में रहने के लिए बाध्य हो जाता है। इस श्लोक में उदाहरण दिया गया है कि जब वायु बहती है, तो धूल के कण वायु में तैरने लगते हैं, क्रमशः बिजली चमकती है फिर घनघोर वर्षा होती है और इस प्रकार वर्षाऋतु के कारण जंगल में विविधता उत्पन्न हो जाती है। ईश्वर अत्यन्त दयालु है—वह सबों को समान अवसर प्रदान करता है, किन्तु मनुष्य अपने कर्मफल के अनुसार इस भौतिक जगत में सुख या दुख भोगता है।

आयुषोऽपचयं जन्तोस्तथैवोपचयं विभुः ।

उभाभ्यां रहितः स्वस्थो दुःस्थस्य विदधात्यसौ ॥ २१ ॥

#### शब्दार्थ

आयुषः—जीवन अवधि का; अपचयम्—ह्रास; जन्तोः—जीवात्माओं का; तथा—उसी प्रकार; एव—भी; उपचयम्—वृद्धि; विभुः—भगवान्; उभाभ्याम्—उन दोनों से; रहितः—रहित, मुक्त; स्व-स्थः—अपनी दिव्य स्थिति में सदैव स्थित; दुःस्थस्य—कर्म के नियम के अन्तर्गत जीवात्मा का; विदधाति—देता है; असौ—वह।

भगवान् विष्णु सर्वशक्तिमान हैं और वे प्रत्येक को सकाम कर्मों का फल देते हैं। इस प्रकार जीवात्मा चाहे अल्पजीवी हो या दीर्घजीवी, भगवान् तो सदा ही दिव्य पद पर रहते हैं और उनकी जीवन-अवधि के घटने या बढ़ने का कोई प्रश्न नहीं उठता।

तात्पर्य : भौतिक जगत में एक मच्छर तथा ब्रह्मा—ये दोनों जीवात्माएँ हैं, दोनों ही क्षुद्र स्फुलिंग हैं और परमेश्वर के अंश हैं। अपने-अपने कर्मफल के अनुसार परमेश्वर द्वारा मच्छर को अल्पायु मिलती है और ब्रह्मा को दीर्घायु। किन्तु *ब्रह्म-संहिता* में कहा गया है—*कर्माणि निर्दहति*—भगवान् भक्तों के

बन्धनों को घटाता है। यही बात *भगवद्गीता* में भी कही गई है—*यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र*—केवल परमेश्वर को प्रसन्न करने के लिए कर्म किया जाय, अन्यथा मनुष्य कर्म के कार्य-कारण से बँध जाता है। कर्म के नियमों के अनुसार जीवात्मा शाश्वत काल के शासन के अधीन होकर विश्व-भर में विचरण करता है और कभी वह मच्छर बन जाता है, तो कभी ब्रह्मा। बुद्धिमान मनुष्य के लिए यह व्यापार लाभप्रद नहीं है। *भगवद्गीता* (९.२५) में जीवात्माओं को आगाह किया गया है—*यान्ति देवव्रता देवान्*—जो देवताओं की पूजा में अनुरक्त हैं, वे देवलोक जाते हैं और जो पितरों में अनुरक्त हैं, वे पितृलोक में जाते हैं। जो सांसारिक कार्यों में रहना चाहते हैं, वे उसी में लगे रहते हैं। किन्तु जो व्यक्ति भक्ति करते हैं, वे भगवान् के धाम को जाते हैं, जहाँ न तो जन्म है, न मृत्यु, न ही कर्म के नियमानुसार विभिन्न योनियाँ हैं। जीवात्मा का सबसे बड़ा हित इसी में है कि वह भगवद्भक्ति में लगा रहे और भगवान् के परम धाम को जाए। श्रील भक्ति विनोद ठाकुर का उपदेश है, “मित्र! तुम काल की तरंगों में बहे जा रहे हो। तुम यह समझने का प्रयास करो कि तुम भगवान् के चिरन्तन दास हो। तब सब कुछ रुक जायेगा और तुम सदा सुखी रहोगे।”

केचित्कर्म वदन्त्येनं स्वभावमपरे नृप ।

एके कालं परे दैवं पुंसः काममुतापरे ॥ २२ ॥

#### शब्दार्थ

केचित्—कुछ; कर्म—सकाम कर्म; वदन्ति—कहते हैं; एनम्—वह; स्वभावम्—स्वभाव; अपरे—अन्य; नृप—हे राजा ध्रुव; एके—कुछ; कालम्—समय, काल; परे—अन्य; दैवम्—भाग्य; पुंसः—जीवात्मा की; कामम्—इच्छा; उत—भी; अपरे—अन्य।

कुछ लोग विभिन्न योनियों तथा उनके सुख-दुख में पाये जाने वाले अन्तर को कर्म-फल बताते हैं। कुछ इसे प्रकृति के कारण, अन्य लोग काल तथा भाग्य के कारण और शेष इच्छाओं के कारण बताते हैं।

तात्पर्य : दार्शनिक कई प्रकार के हैं—मीमांसक, नास्तिक, ज्योतिषी, कामुकतावादी तथा चिन्तक। वास्तविक निष्कर्ष यह है कि हमारे कर्म ही हमें इस जगत में विभिन्न योनियों में बाँध देते हैं। ये योनियाँ किस प्रकार बनीं, इसकी विवेचना वेदों में मिलती है। यह जीवात्मा की इच्छा के कारण है। जीवात्मा कोई जड़ पत्थर तो है नहीं, उसकी तरह-तरह की इच्छाएँ अथवा काम होते हैं। वेदों का

कथन है—*कामोऽकर्षात्*। जीवात्माएँ मूलतः भगवान् के अंश हैं, जिस प्रकार अग्नि की चिनगारियाँ होती हैं, किन्तु वे जीवात्माएं प्रकृति पर विजय की कामना द्वारा आकर्षित होकर इस भौतिक जगत में नीचे गिर आई हैं। यह तथ्य है। प्रत्येक जीवात्मा यथाशक्ति भौतिक स्रोतों पर विजय प्राप्त करने का प्रयत्न करती है।

इस काम अथवा इच्छा को विनष्ट नहीं किया जा सकता। कुछ चिन्तकों का कथन है कि यदि कोई अपनी इच्छाएँ त्याग दे तो पुनः मुक्त हो जाता है। किन्तु इच्छाओं को पूरी तरह छोड़ पाना सम्भव नहीं है, क्योंकि इच्छा तो जीवात्मा का लक्षण है। यदि इच्छा न हो तो जीवात्मा पत्थर के समान जड़ रहे। अतः श्रील नरोत्तमदास ठाकुर सलाह देते हैं कि मनुष्य को चाहिए कि वह अपनी इच्छा को भगवान् की सेवा की ओर मोड़ दे। तब इच्छा शुद्ध हो जाती है। जब इच्छा शुद्ध हो जाती है, तो मनुष्य समस्त भौतिक कल्मष से मुक्त हो जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि विभिन्न विचारकों द्वारा प्रस्तुत योनियों तथा उनके सुख-दुख की व्याख्या करनेवाले सभी सिद्धान्त अपूर्ण हैं। वास्तविक व्याख्या तो यह है कि हम सभी भगवान् के नित्य दास हैं और ज्योंही हम इस भौतिक संसार सम्बन्ध को भूल जाते हैं त्योंही हम इस जगत में फेंक दिये जाते हैं, जहाँ हम विभिन्न कर्मों के द्वारा सुख या दुख भोगते हैं। हम इस भौतिक संसार में इच्छा द्वारा आकृष्ट होते हैं, किन्तु इस इच्छा को शुद्ध करके भगवान् की भक्ति में लगाना होगा। तब इस ब्रह्माण्ड में विभिन्न रूपों तथा अवस्थाओं में हमारा मटकना बन्द हो जाएगा।

अव्यक्तस्याप्रमेयस्य नानाशक्त्युदयस्य च ।

न वै चिकीर्षितं तात को वेदाथ स्वसम्भवम् ॥ २३ ॥

#### शब्दार्थ

अव्यक्तस्य—अप्रकट का; अप्रमेयस्य—अप्रमेय का; नाना—अनेक; शक्ति—शक्तियाँ; उदयस्य—प्रकट करनेवाले का; च—भी; न—कभी नहीं; वै—निश्चय ही; चिकीर्षितम्—योजना; तात—हे बालक; कः—कौन; वेद—जान सकता है; अथ—अतः; स्व—अपनी; सम्भवम्—उत्पत्ति।

परम सत्य अर्थात् सत्त्व कभी भी अपूर्ण ऐन्द्रिय प्रयास द्वारा जानने का विषय नहीं रहा है, न ही उसका प्रत्यक्ष अनुभव किया जा सकता है। वह पूर्ण भौतिक शक्ति सदृश नाना प्रकार की शक्तियों का स्वामी है और उसकी योजना या कार्यों को कोई भी नहीं समझ सकता। अतः निष्कर्ष यह निकलता है कि वे समस्त कारणों के आदि कारणस्वरूप हैं, अतः उन्हें कल्पना

द्वारा नहीं जाना जा सकता।

**तात्पर्य :** यहाँ यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि क्योंकि अनेक प्रकार के चिन्तक भिन्न-भिन्न विधियों से सिद्धान्त बनाते हैं, तो उनमें से कौन सही है? इसका उत्तर यह है कि परम सत्य या सत्त्व कभी भी प्रत्यक्ष अनुभव या कल्पना का विषय नहीं रहा है। मनोधर्मी चिन्तक को कूप-मण्डूक कहा जा सकता है। कथा इस प्रकार है कि एक तीन फुट गहरे कूप में रहने वाले मण्डूक (मेंढक) ने अपने कुएं के ज्ञान के आधार पर अटलांटिक सागर की लम्बाई-चौड़ाई जाननी चाही। लेकिन यह उसके लिए दुष्कर था। कोई व्यक्ति भले ही कितना बड़ा शिक्षाविद्, विद्वान् या प्रोफेसर क्यों न हो, किन्तु सीमित इन्द्रियों के कारण वह परम सत्य की न तो कल्पना कर सकता है और न जान सकता है। समस्त कारणों के कारण परम सत्य को स्वयं परम सत्य से ही जाना जा सकता है। जब रात्रि में सूर्य दृष्टिगोचर नहीं होता या दिन में बादलों से ढका रहता है, तो उसे न तो शारीरिक, न ही मानसिक शक्ति अथवा वैज्ञानिक उपकरणों से उघाड़ा जा सकता है, भले ही सूर्य आकाश में हो। कोई यह दावा नहीं कर सकता कि उसने ऐसी टार्च खोज निकाली है, जिसे रात्रि में छत पर जाकर आकाश की ओर अभिमुख करने पर सूर्य दिखलाई पड़ सके। न तो ऐसी टार्च है और न ही इसकी सम्भावना है।

इस श्लोक में आया हुआ *अव्यक्त* शब्द सूचित करता है कि परम सत्य को किसी प्रकार के तथाकथित वैज्ञानिक ज्ञान के उन्नयनसमुन्नत ज्ञान से प्रकट नहीं किया जा सकता। सत्त्व प्रत्यक्ष अनुभव का विषय नहीं है। परम सत्य को वैसे ही जाना जा सकता है, जिस प्रकार बादलों से ढका हुआ अथवा रात्रि से आच्छादित सूर्य को, क्योंकि जब प्रातःकाल सूर्य अपने आप प्रकट होता है, तो हर प्राणी उसे देख सकता है, संसार को देख सकता है और अपने आपको देख सकता है। आत्म-साक्षात्कार का यह ज्ञान *आत्मतत्त्व* कहलाता है। किन्तु जब तक मनुष्य आत्मतत्त्व को नहीं प्राप्त कर लेता, तब तक वह उसी अंधकार में रहता है, जिसमें वह जन्मा था। ऐसी परिस्थिति में भगवान् की योजना को कोई भी नहीं समझ सकता। भगवान् अनेक शक्तियों से सम्पन्न हैं जैसाकि वैदिक साहित्य में कहा गया है (*परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते*)। वे शाश्वत कालशक्ति से समन्वित हैं। वे न केवल भौतिक शक्ति से सम्पन्न हैं, जिसे हम देखते और अनुभव करते हैं, वरन् वे ऐसी अनेक गुप्त शक्तियों से युक्त हैं, जिन्हें

समय आने पर वे ही प्रकट कर सकते हैं। भौतिक विज्ञानी विभिन्न शक्तियों के आंशिक ज्ञान का अध्ययन कर सकता है। वह किसी एक शक्ति को अपने सीमित ज्ञान से समझने का प्रयास कर सकता है, किन्तु फिर भी भौतिक विज्ञान के बल पर परम सत्य को समझ पाना सम्भव नहीं हो पाता। कोई भी भौतिक विज्ञानी पहले से यह नहीं बता सकता कि भविष्य में क्या होनेवाला है। किन्तु भक्तियोग तथाकथित वैज्ञानिक ज्ञान की प्रगति से सर्वथा भिन्न है। भक्त भगवान् के समक्ष पूर्ण रूप से समर्पित हो जाता है और वे अपनी अहैतुकी कृपा से स्वयं को प्रकट करते हैं। जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है—*ददामि बुद्धियोगं तम्*—अर्थात् मैं उसे बुद्धि प्रदान करता हूँ। आखिर यह बुद्धि क्या है? *येन माम् उपयान्ति ते*। भगवान् मनुष्य को बुद्धि देते हैं जिससे वह अज्ञान सागर को पार करके भगवान् के धाम को वापस जा सके। निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि समस्त कारणों के कारण परम सत्य अथवा परब्रह्म को दार्शनिक चिन्तन द्वारा नहीं समझा जा सकता, किन्तु वे अपने भक्त के समक्ष प्रकट होते हैं, क्योंकि भक्त उनके चरणकमलों पर पूर्णतः समर्पित हो जाता है। अतः *भगवद्गीता* को स्वयं परम सत्य द्वारा उद्घाटित धर्मग्रन्थ मानना चाहिए, जिसे परम सत्य द्वारा इस लोक में प्रकट होने पर स्वयं, उच्चारित किया गया था। यदि कोई बुद्धिमान मनुष्य यह जानना चाहता है कि ईश्वर क्या है, तो उसे इस दिव्य साहित्य का अध्ययन प्रामाणिक गुरु के निर्देशन में करना चाहिए। तभी कृष्ण को यथारूप समझना सरल होगा।

न चैते पुत्रक भ्रातुर्हन्तारो धनदानुगाः ।

विसर्गादानयोस्तात पुंसो दैवं हि कारणम् ॥ २४ ॥

#### शब्दार्थ

न—कभी नहीं; च—भी; एते—ये सब; पुत्रक—हे पुत्र; भ्रातुः—तुम्हारे भाई के; हन्तारः—मारनेवाले; धनद—कुवेर के; अनुगाः—अनुचर; विसर्ग—जन्म; आदानयोः—मृत्यु का; तात—हे पुत्र; पुंसः—जीवात्मा का; दैवम्—ईश्वर; हि—निश्चय ही; कारणम्—कारण।

हे पुत्र, वे कुवेर के अनुचर यक्षगण तुम्हारे भाई के वास्तविक हत्यारे नहीं हैं; प्रत्येक जीवात्मा का जन्म तथा मृत्यु तो समस्त कारणों के कारण परमेश्वर द्वारा ही तय होती है।

स एव विश्वं सृजति स एवावति हन्ति च ।

अथापि ह्यनहङ्कारान्नाज्यते गुणकर्मभिः ॥ २५ ॥

### शब्दार्थ

सः—वह; एव—निश्चय ही; विश्वम्—ब्रह्माण्ड; सृजति—उत्पन्न करता है; सः—वह; एव—निश्चय ही; अवति—पालता है; हन्ति—संहार करता है; च—भी; अथ अपि—और भी; हि—निश्चय ही; अनहङ्कारात्—अहंकाररहित होने से; न—नहीं; अज्यते—फँसता है; गुण—गुणों से; कर्मभिः—कर्मों से।

भगवान् ही इस भौतिक जगत की सृष्टि करते, पालते और यथासमय संहार करते हैं, किन्तु ऐसे कार्यों से परे रहने के कारण वे इनमें न तो अहंकार से और न प्रकृति के गुणों द्वारा प्रभावित होते हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक में आये हुए *अनहंकार* शब्द का अर्थ “अहंकाररहित” है। बद्धजीव अहंकारी होता है और अपने कर्म के फलस्वरूप वह इस जगत में अनेक प्रकार की देह प्राप्त करता है। कभी उसे देवता की देह प्राप्त होती है और वह देह को स्वात्म मान बैठता है। इसी प्रकार जब उसे कुत्ते की देह प्राप्त होती है, तो वह अपने (स्व) को वही देह मान लेता है। किन्तु भगवान् के लिए देह तथा आत्मा में ऐसा कोई अन्तर नहीं रहता। अतः *भगवद्गीता* का प्रमाण है कि जो व्यक्ति कृष्ण को सामान्य मनुष्य समझता है, वह उनके दिव्य स्वभाव से परिचित नहीं है और महामूर्ख है। भगवान् कहते हैं—*न मां कर्माणि लिम्पन्ति*—वे जो कुछ करते हैं उनसे उन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता क्योंकि वे प्रकृति के भौतिक गुणों से कभी भी दूषित नहीं होते। हमारे पास भौतिक शरीर का होना सिद्ध करता है कि हम तीनों गुणों से दूषित हो चुके हैं। अर्जुन से भगवान् कहते हैं, “इसके पूर्व मेरे तथा तुम्हारे कई जन्म हुए थे, मुझे उनका स्मरण है, किन्तु तुम्हें नहीं है।” यही जीवात्मा और परमात्मा का अन्तर है। परमात्मा का कोई भौतिक शरीर नहीं होता और भौतिक शरीर न होने से वे जो भी कार्य करते हैं उनसे वे प्रभावित नहीं होते। अनेक मायावादी चिन्तक कृष्ण के शरीर को सत्त्वगुण के केन्द्रीभूत होने का प्रभाव मानते हैं और वे कृष्ण की आत्मा को उनके शरीर से पृथक् मानते हैं। किन्तु वास्तविक स्थिति यह है कि बद्धजीव का शरीर चाहे उसमें भौतिक अच्छाइयाँ कितनी भी हों, फिर भी भौतिक होता है; जबकि कृष्ण का शरीर कभी भी भौतिक नहीं होता। वह दिव्य होता है। कृष्ण में अहंकार नहीं है, क्योंकि वे मिथ्या तथा अस्थायी देह से अपनी पहचान नहीं करते। उनका शरीर सदैव नित्य है। वे इस जगत में अपने मूल, दिव्य देह के साथ अवतरित होते हैं। *भगवद्गीता* में इसकी व्याख्या परं

भावम् के रूप में की गई है। कृष्ण के व्यक्तित्व को समझने में परं भावम् तथा दिव्यम् शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं।

एष भूतानि भूतात्मा भूतेशो भूतभावनः ।

स्वशक्त्या मायया युक्तः सृजत्यत्ति च पाति च ॥ २६ ॥

### शब्दार्थ

एषः—यह; भूतानि—समस्त प्राणी; भूत-आत्मा—समस्त जीवात्माओं का परमात्मा; भूत-ईशः—प्रत्येक का नियन्ता; भूत-भावनः—प्रत्येक का पालनकर्ता; स्व-शक्त्या—अपनी शक्ति से; मायया—बहिरंगा शक्ति से; युक्तः—ऐसे साधन से; सृजति—उत्पन्न करता है; अत्ति—संहार करता है; च—तथा; पाति—पालन करता है; च—और।

भगवान् समस्त जीवात्माओं के परमात्मा हैं। वे हर एक के नियामक तथा पालक हैं; वे अपनी बहिरंगा शक्ति के माध्यम से सभी जीवों का सृजन, पालन तथा संहार करते हैं।

तात्पर्य : सृष्टि करने में दो प्रकार की शक्तियाँ कार्य करती हैं। भगवान् अपनी बहिरंगा, भौतिक शक्ति के द्वारा इस भौतिक जगत की सृष्टि करते हैं, किन्तु वैकुण्ठ-जगत तो उनकी अन्तरंगा शक्ति का प्राकट्य है। वे सदैव अन्तरंगा शक्ति से सम्बद्ध रहते हैं, किन्तु भौतिक शक्ति से सदैव विलग रहते हैं। अतः भगवद्गीता (९.४) में भगवान् कहते हैं—*मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः*—सभी जीवात्माएँ या तो मुझमें या मेरी शक्ति में वास करती हैं, किन्तु मैं सर्वत्र नहीं रहता। वे व्यक्तिगत रूप से वैकुण्ठ जगत में सदैव स्थित रहते हैं। भौतिक जगत में भी जहाँ कहीं भी वे व्यक्तिगत रूप से उपस्थित रहते हैं वह वैकुण्ठ जगत ही माना जाता है। उदाहरणार्थ, शुद्ध भक्तों द्वारा भगवान् मन्दिरों में पूजे जाते हैं, अतः मन्दिरों को वैकुण्ठ-जगत मानना चाहिए।

तमेव मृत्युममृतं तात दैवं

सर्वात्मनोपेहि जगत्परायणम् ।

यस्मै बलिं विश्वसृजो हरन्ति

गावो यथा वै नसि दामयन्त्रिताः ॥ २७ ॥

### शब्दार्थ

तम्—उनको; एव—निश्चय ही; मृत्युम्—मृत्यु; अमृतम्—अमरत्व; तात—हे पुत्र; दैवम्—ईश्वर; सर्व-आत्मना—सभी प्रकार से; उपेहि—शरण में जाओ; जगत्—जगत का; परायणम्—परिणति, चरम लक्ष्य; यस्मै—जिसको; बलिम्—भेंट; विश्व-सृजः—ब्रह्मा जैसे समस्त देवता; हरन्ति—ले जाते हैं; गावः—बैल; यथा—जिस प्रकार; वै—निश्चय ही; नसि—नाक में; दाम—रस्सी से; यन्त्रिताः—वश में किये गये।

हे बालक ध्रुव, तुम भगवान् की शरण में जाओ जो जगत की प्रगति के चरम लक्ष्य हैं।

ब्रह्मादि सहित सभी देवगण उनके नियंत्रण में कार्य कर रहे हैं, जिस प्रकार नाक में रस्सी पड़ा बैल अपने स्वामी द्वारा नियंत्रित किया जाता है।

**तात्पर्य :** परम नियामक से स्वतंत्र होने की घोषणा करना भौतिक रोग है। वस्तुतः जब हम परम नियामक को भूल जाते हैं और भौतिक प्रकृति पर अधिकार जमाना चाहते हैं, तो हमारा भौतिक अस्तित्व प्रारम्भ होता है। इस जगत में हर एक व्यक्ति परम नियामक बनने के लिए भरसक प्रयत्न कर रहा है चाहे वह व्यक्तिगत हो, राष्ट्र स्तर पर हो, सामाजिक हो अथवा अन्य रूपों में हो। ध्रुव महाराज को उनके पितामह ने युद्ध करने के लिए मना किया क्योंकि उनको चिन्ता थी कि ध्रुव व्यक्तिगत आकांक्षा के कारण यक्षों की समग्र जाति को युद्ध में विनष्ट कर देने पर तुले थे। अतः इस श्लोक में स्वायंभुव मनु परम नियंता की स्थिति बताकर ध्रुव की मिथ्या आकांक्षा के अन्तिम अंश को भी मिटा देना चाहते हैं। यहाँ पर *मृत्युम् अमृतम्* शब्द सार्थक हैं जिनका अर्थ है, “मृत्यु तथा अमरता।” *भगवद्गीता* में भगवान् कहते हैं, “मैं ही परम काल हूँ जो असुरों से सब कुछ छीन लेता है।” असुरों का कार्य प्रकृति के स्वामी बन कर जीवन-संघर्ष करते रहना है। असुरों की बारम्बार मृत्यु होती रहती है और वे भौतिक जगत में बुरी तरह से उलझे रहते हैं। भगवान् असुरों के लिए मृत्यु, किन्तु देवों के लिए अमृत अर्थात् शाश्वत जीवन हैं। जो भक्त भगवान् की निरन्तर सेवा करते रहते हैं उन्हें पहले ही अमरत्व प्राप्त हुआ रहता है, क्योंकि वे इस जीवन में जो भी करते हैं उसे अगले जन्मों में भी करते रहेंगे। केवल भौतिक देहों के स्थान पर उन्हें दिव्य-देहें प्राप्त होंगी। असुरों की भाँति उन्हें भौतिक शरीरों को बदलना नहीं पड़ता। फलतः भगवान् एक ही साथ मृत्यु तथा अमरत्व दोनों हैं। वे असुरों के लिए मृत्यु तथा भक्तों के लिए अमरत्व हैं। वे हर एक के चरम गन्तव्य हैं, क्योंकि वे समस्त कारणों के कारण हैं। ध्रुव महाराज को यह उपदेश मिला कि कोई भी व्यक्तिगत आकांक्षा रखे बिना भगवान् की शरण में जाये। कोई यह तर्क कर सकता है कि देवताओं की पूजा क्यों की जाती है? यहाँ पर यह उत्तर दिया गया है कि केवल अल्पज्ञानी पुरुष ही देवताओं को पूजते हैं। देवता स्वयं परमेश्वर को प्रसन्न करने के उद्देश्य से ही यज्ञों को स्वीकार करते हैं।

यः पञ्चवर्षो जननीं त्वं विहाय  
 मातुः सपत्न्या वचसा भिन्नमर्मा ।  
 वनं गतस्तपसा प्रत्यगक्ष-  
 माराध्य लेभे मूर्ध्नि पदं त्रिलोक्याः ॥ २८ ॥

### शब्दार्थ

यः—जो; पञ्च-वर्षः—पाँच साल के; जननीम्—माता को; त्वम्—तुम; विहाय—छोड़ कर; मातुः—माता का; स-पत्न्याः—सौतों के; वचसा—शब्दों से; भिन्न-मर्मा—हृदय में शोकाकुल; वनम्—जंगल को; गतः—गये हुए; तपसा—तपस्या द्वारा; प्रत्यक्-अक्षम्—परमेश्वर को; आराध्य—पूज कर; लेभे—प्राप्त किया; मूर्ध्नि—चोटी पर; पदम्—पद; त्रि-लोक्याः—तीनों लोकों की।

हे ध्रुव, तुम केवल पाँच वर्ष की आयु में ही अपनी माता कि सौत के वचनों से अत्यन्त दुखी हुए और बड़ी बहादुरी से अपनी माता का संरक्षण त्याग दिया तथा भगवान् का साक्षात्कार करने के उद्देश्य से योगाभ्यास में संलग्न होने के लिए जंगल चले गये थे। इस कारण तुमने पहले से ही तीनों लोकों में सर्वोच्च पद प्राप्त कर लिया है।

तात्पर्य : मनु को गर्व था कि ध्रुव महाराज उनके कुल के वंशधर थे, क्योंकि जब वे पाँच साल के थे तभी उन्होंने भगवान् का ध्यान करना प्रारम्भ किया और केवल छह मास में परमेश्वर का साक्षात्कार कर लिया। वस्तुतः ध्रुव महाराज मनुवंश के अथवा मनुष्य-परिवार के भूषण हैं। मनुष्य-परिवार का प्रारम्भ मनु से होता है। संस्कृत में मनुष्य शब्द का अर्थ “मनु की संतान” है। ध्रुव महाराज न केवल स्वायंभुव मनु के कुल की कीर्ति हैं, वरन् वे सम्पूर्ण मानव समाज की कीर्ति हैं। चूँकि ध्रुव महाराज ने पहले ही भगवान् के समक्ष समर्पण कर दिया था, अतः उनसे विशेष अनुरोध किया जा रहा था कि ऐसा कुछ न करें जो शरणागत के लिए अशोभनीय हो।

तमेनमङ्गात्मनि मुक्तविग्रहे  
 व्यपाश्रितं निर्गुणमेकमक्षरम् ।  
 आत्मानमन्विच्छ विमुक्तमात्मदृग्  
 यस्मिन्निदं भेदमसत्प्रतीयते ॥ २९ ॥

### शब्दार्थ

तम्—उसको; एनम्—वह; अङ्ग—हे ध्रुव; आत्मनि—मन में; मुक्त-विग्रहे—क्रोध-रहित; व्यपाश्रितम्—स्थित; निर्गुणम्—दिव्य; एकम्—एक; अक्षरम्—अच्युत ब्रह्म; आत्मानम्—स्व; अन्विच्छ—ढूँढने का यत्न करो; विमुक्तम्—अकलुषित; आत्म-दृक्—परमात्मा की ओर मुख किये; यस्मिन्—जिसमें; इदम्—यह; भेदम्—अन्तर; असत्—असत्य; प्रतीयते—प्रतीत होता है।

अतः हे ध्रुव, अपना ध्यान परम पुरुष अच्युत ब्रह्म की ओर फेरो। तुम अपनी मूल स्थिति में

रह कर भगवान् का दर्शन करो। इस तरह आत्म-साक्षात्कार द्वारा तुम इस भौतिक अन्तर को क्षणिक पाओगे।

तात्पर्य : जीवात्माओं की आत्म-साक्षात्कार की उनकी स्थिति के अनुसार, तीन प्रकार की दृष्टि होती है। देहात्म-बुद्धि के अनुसार मनुष्य योनियों के रूप में अन्तर देखता है। भौतिक रूपों में जीवात्मा वास्तव में अनेक भौतिक रूपों में से होकर गुजरता है, किन्तु शरीर के इन परिवर्तनों के बावजूद वह शाश्वत है। अतः देहात्म-बुद्धि के अनुसार देखे जाने पर एक मनुष्य दूसरे से भिन्न लगता है। मनु चाहते थे कि ध्रुव महाराज यक्षों के प्रति अपनी दृष्टि बदल दें क्योंकि वे उन्हें अपने से भिन्न अथवा शत्रु-रूप में देख रहे थे। यथार्थ में कोई किसी का मित्र या शत्रु नहीं होता है। प्रत्येक व्यक्ति कर्मों के अधीन विभिन्न प्रकार के शरीर धारण करता है, किन्तु जैसे ही उसे आत्म-बोध हो जाता है, तो इस नियम के अनुसार भेद नहीं पाता है। दूसरे शब्दों में, जैसाकि *भगवद्गीता* (१८.५४) में कहा गया है—

*ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति ।*

*समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥*

पहले से मुक्त भक्त को बाह्य शरीर में भेद नहीं दिखता, वह समस्त जीवात्माओं को भगवान् के नित्य दास के रूप में देखता है। मनु ने ध्रुव महाराज को उपदेश दिया कि वे इसी दृष्टि से देखें। उन्हें ऐसा उपदेश इसलिए भी दिया गया, क्योंकि वे महान् भक्त थे, उन्हें अन्य जीवात्माओं को सामान्य दृष्टि से नहीं देखना चाहिए था। अप्रत्यक्षतः मनु ने संकेत किया कि ध्रुव ने स्नेहवश अपने भाई को अपना सगा और यक्षों को शत्रु माना है। इस प्रकार का भेद उस समय दूर हो जाता है जब मनुष्य भगवान् के नित्य दास रूप में अपनी मूल शाश्वत अवस्था में स्थित होता है।

त्वं प्रत्यगात्मनि तदा भगवत्यनन्त

आनन्दमात्र उपपन्नसमस्तशक्तौ ।

भक्तिं विधाय परमां शनकैरविद्या-

ग्रन्थि विभेत्यसि ममाहमिति प्ररूढम् ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

त्वम्—तुम; प्रत्यक्-आत्मनि—परमात्मा को; तदा—उस समय; भगवति—भगवान् को; अनन्ते—असीम को; आनन्द-मात्रे—समस्त आनन्द का आगार; उपपन्न—से युक्त; समस्त—सर्व; शक्तौ—शक्तियाँ; भक्तिम्—भक्ति; विधाय—करके; परमाम्—परम; शनकैः—तुरन्त; अविद्या—माया की; ग्रन्थिम्—गाँठ; विभेत्स्यसि—नष्ट कर दोगे, काट दोगे; मम—मेरा; अहम्—मैं; इति—इस प्रकार; प्ररूढम्—दृढ़तापूर्वक स्थित, सुदृढ़।

इस प्रकार अपनी सहज स्थिति प्राप्त करके तथा समस्त आनन्द के सर्व शक्तिसम्पन्न आगार तथा प्रत्येक जीवात्मा में परमात्मा में स्थित परमेश्वर की सेवा करके तुम तुरन्त ही “मैं” तथा ‘मेरा’ के मायाजनित बोध को भूल जाओगे।

तात्पर्य : ध्रुव महाराज पहले से मुक्त पुरुष थे, क्योंकि पाँच वर्ष की ही अवस्था में उन्हें भगवान् का दर्शन हो चुका था। मुक्त होने के बावजूद भी वे इस समय माया के मोह से ग्रस्त थे, क्योंकि अपने भाई उत्तम को देहात्म-बुद्धि से देख रहे थे। सारा भौतिक जगत ‘मैं’ तथा ‘मेरा’ को आधार मानकर कार्यशील है। भौतिक जगत के प्रति आकर्षण का मूल कारण यही है। यदि मनुष्य ‘मैं’ तथा ‘मेरा’ के मायामोह से आकृष्ट हो जाता है, तो वह इसी जगत में विभिन्न सम्मानित अथवा घृणित पदों पर रहता रहेगा। भगवत्कृपा से मनु तथा ऋषियों ने ध्रुव महाराज को स्मरण दिलाया कि वे इस ‘मैं-मेरे’ के भौतिक बोध में न रहें। मात्र भगवद्भक्ति से उनका यह मोह सुगमता से दूर हो सकता है।

संयच्छ रोषं भद्रं ते प्रतीपं श्रेयसां परम् ।

श्रुतेन भूयसा राजन्नगदेन यथामयम् ॥ ३१ ॥

#### शब्दार्थ

संयच्छ—जरा रोको; रोषम्—क्रोध को; भद्रम्—कल्याण हो; ते—तुम्हारा; प्रतीपम्—शत्रु; श्रेयसाम्—समस्त अच्छाई का; परम्—अग्रणी; श्रुतेन—सुनकर; भूयसा—निरन्तर; राजन्—हे राजा; अगदेन—उपचार से; यथा—जिस प्रकार; आमयम्—रोग।

हे राजन्, मैंने तुम्हें जो कुछ कहा है, उस पर विचार करो। यह राग पर ओषधि के समान काम करेगा। अपने क्रोध को रोको, क्योंकि आत्मबोध के मार्ग में क्रोध सबसे बड़ा शत्रु है। मैं तुम्हारे मंगल की कामना करता हूँ। तुम मेरे उपदेशों का पालन करो।

तात्पर्य : ध्रुव महाराज मुक्त जीव थे और वास्तव में वे किसी से रुष्ट न थे। किन्तु शासक होने के नाते, राज्य में शान्ति तथा व्यवस्था बनाये रखने की दृष्टि से कुछ समय के लिए क्रुद्ध होना उनका कर्तव्य था। उनका भाई उत्तम निर्दोष था, तो भी किसी यक्ष ने उसका वध कर दिया था। राजा होने के नाते ध्रुव महाराज का कर्तव्य था कि अपराधी का वध जैसे को तैसा करते। ध्रुव राजा थे, चुनौती

उपस्थित होने पर ध्रुव महाराज ने डटकर युद्ध किया और यक्षों को यथेष्ट रूप से दण्डित किया। किन्तु क्रोध ऐसा है कि बढ़ाने से असीमित रूप में बढ़ता है। इस दृष्टि से कि ध्रुव महाराज शासकीय क्रोध सीमा का अतिक्रमण न कर जाये, मनु ने अपने पौत्र को रोक कर उचित ही किया। ध्रुव महाराज अपने पितामह के प्रयोजन को समझ गये, अतः उन्होंने तुरन्त युद्ध बन्द कर दिया। इस श्लोक में *श्रुतेन भूयसा* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है जिनका अर्थ है “निरन्तर सुनते रहने से।” भक्ति के विषय में निरन्तर श्रवण से क्रोध के वेग को शान्त किया जा सकता है क्योंकि यह भक्ति के मार्ग में बाधक है। श्रील परीक्षित महाराज ने कहा है कि भगवान् की लीलाओं का निरन्तर श्रवण समस्त भवरोगों की रामबाण दवा है। अतः प्रत्येक व्यक्ति को चाहिए कि वह भगवान् के विषय में निरन्तर श्रवण करे। इससे मानसिक सन्तुलन बना रहेगा और आध्यात्मिक जीवन की प्रगति में कोई बाधा नहीं आएगी।

दुष्टों पर ध्रुव महाराज का क्रुद्ध होना उचित था। इस प्रसंग में एक सर्प के बारे में एक लघु कथा है जो नारद के उपदेश से भक्त बन गया था। नारद ने उसे उपदेश दिया था कि अब आगे वह किसी को न काटे। चूंकि सामान्य रूप में साँप दूसरों को काटना अपना धर्म समझता है, अतः भक्त होने के नाते उसे ऐसा करने से रोका गया। दुर्भाग्यवश, लोगों ने साँप के न काटने के व्रत का अनुचित लाभ उठाया— विशेष रूप से बच्चे उस पर पत्थर फेंकने लगे। किन्तु वह किसी को न काटता, क्योंकि उसके गुरु का यही आदेश था। कुछ काल बाद जब वह अपने गुरु नारद से मिला तो उसने शिकायत की, “मैंने निर्दोष जीवों को काटने की बुरी आदत छोड़ दी है, किन्तु वे मुझ पर पत्थर फेंक कर मेरे साथ दुर्व्यवहार कर रहे हैं।” यह सुनकर नारद ने उसे उपदेश दिया, “काटना मत; किन्तु अपना फन फैलाना मत भूलना जिससे लगे कि तुम काटनेवाले हो।” ऐसा करने से वे चले जाएंगे। इसी प्रकार भक्त सदैव अहिंसक होता है, उसमें समस्त सद्गुण रहते हैं, किन्तु इस सामान्य जगत में, जब अन्य लोग उत्पात मचाते हैं, तो उसे उत्पातियों को भगाने के लिए उस समय अवश्य क्रुद्ध होना चाहिए।

येनोपसृष्टात्पुरुषाल्लोक उद्विजते भृशम् ।

न बुधस्तद्वशं गच्छेदिच्छन्नभयमात्मनः ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

येन—जिससे; उपसृष्टात्—वशीभूत होकर; पुरुषात्—पुरुष द्वारा; लोकः—प्रत्येक व्यक्ति; उद्विजते—भयभीत होता है; भृशम्—अत्यधिक; न—कभी नहीं; बुधः—बुद्धिमान पुरुष; तत्—क्रोध के; वशम्—वश में; गच्छेत्—जाए; इच्छन्—चाहते हुए; अभयम्—निर्भीकता, मुक्ति; आत्मनः—स्व की।

जो व्यक्ति इस भौतिक जगत से मुक्ति चाहता है उसे चाहिए कि वह क्रोध के वशीभूत न हो, क्योंकि क्रोध से मोहग्रस्त होने पर वह अन्य सबों के लिए भय का कारण बन जाता है।

तात्पर्य : भक्त या साधु पुरुष को न तो अन्यो के लिए भय का कारण बनना चाहिए और न किसी को चाहिए कि उसके भय का कारण बने। यदि दूसरे से शत्रुता का व्यवहार नहीं किया जाता तो फिर कोई किसी का शत्रु क्यों बनेगा? किन्तु जीसस क्राइस्ट का उदाहरण हमारे समक्ष है जिनके शत्रुओं ने उन्हें क्रूस (सूली) चढ़ा दिया। असुर सदैव विद्यमान रहते हैं और वे साधु पुरुषों में भी दोष निकालते रहते हैं, किन्तु साधु पुरुष कभी रुष्ट नहीं होते, भले ही उन्हें कितना ही क्यों न उकसाया जाये।

हेलनं गिरिशभ्रातुर्धनदस्य त्वया कृतम् ।

यज्जघ्नवान्पुण्यजनान्भ्रातृघ्नानित्यमर्षितः ॥ ३३ ॥

#### शब्दार्थ

हेलनम्—दुर्व्यवहार; गिरिश—शिवजी के; भ्रातृः—भाई; धनदस्य—कुबेर का; त्वया—तुम्हारे द्वारा; कृतम्—किया गया; यत्—क्योंकि; जघ्नवान्—तुम्हारे द्वारा मारे गये; पुण्य-जनान्—यक्षगण; भ्रातृ—तुम्हारे भाई के; घ्नान्—मारने वाले; इति—इस प्रकार ( सोचकर ); अमर्षितः—क्रुद्ध।

हे ध्रुव, तुमने सोचा कि यक्षों ने तुम्हारे भाई का वध किया है, अतः तुमने अनेक यक्षों को मार डाला है। किन्तु इस कृत्य से तुमने शिवजी के भ्राता एवं देवताओं के कोषाध्यक्ष कुबेर के मन को क्षुब्ध कर दिया है। ख्याल करो कि तुम्हारे ये कर्म कुबेर तथा शिव दोनों के प्रति अतीव अवज्ञापूर्ण हैं।

तात्पर्य : मनु ने बताया कि यक्ष कुबेर के परिवार से सम्बन्धित हैं, अतः उनके प्रति शत्रुभाव के कारण ध्रुव महाराज शिव तथा उनके भाई कुबेर के प्रति भी अपराधी हैं। वे सामान्य व्यक्ति न थे, इसलिए उन्हें पुण्य-जनान् अर्थात् पवित्र व्यक्ति कहा गया है। किसी-न-किसी प्रकार से कुबेर क्षुब्ध थे और ध्रुव महाराज को सलाह दी गई कि वे उन्हें शान्त करें।

तं प्रसादय वत्साशु सन्नत्या प्रश्रयोक्तिभिः ।

न यावन्महतां तेजः कुलं नोऽभिभविष्यति ॥ ३४ ॥

## शब्दार्थ

तम्—उसको; प्रसादय—शान्त करो; वत्स—मेरे पुत्र; आशु—शीघ्र; सन्नत्या—नमस्कार द्वारा; प्रश्रया—सदाचरण से; उक्तिभिः—विनीत वचनों से; न यावत्—इसके पूर्व कि; महताम्—महान् पुरुषों का; तेजः—कोप; कुलम्—परिवार को; नः—हमारे; अभिभविष्यति—प्रभावित कर दे।

इस कारण, हे पुत्र, तुम विनीत वचनों तथा प्रार्थना द्वारा कुबेर को शीघ्र शान्त कर लो जिससे कि उनका कोप हमारे परिवार को किसी तरह प्रभावित न कर सके।

तात्पर्य : सामान्य व्यवहार में हमें हर एक से और विशेष रूप से कुबेर जैसे उच्च-पदस्थ देवताओं से तो मित्रता बरतनी ही चाहिए। हमारा व्यवहार ऐसा हो कि कोई क्रुद्ध न हो जिससे वह व्यक्तियों, परिवारों या समाज को हानि पहुँचाए।

एवं स्वायम्भुवः पौत्रमनुशास्य मनुर्धुवम् ।

तेनाभिवन्दितः साकमृषिभिः स्वपुरं ययौ ॥ ३५ ॥

## शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; स्वायम्भुवः—स्वायंभुव; पौत्रम्—अपने पौत्र को; अनुशास्य—शिक्षा देकर; मनुः—मनु; ध्रुवम्—ध्रुव महाराज को; तेन—उसके द्वारा; अभिवन्दितः—नमस्कृत; साकम्—साथ-साथ; ऋषिभिः—ऋषियों के साथ; स्व-पुरम्—अपने धाम को; ययौ—चले गये।

इस प्रकार जब स्वायंभुव मनु अपने पौत्र ध्रुव महाराज को शिक्षा दे चुके तो ध्रुव ने उन्हें सादर नमस्कार किया। फिर ऋषियों समेत मनु अपने धाम को चले गये।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के चतुर्थ स्कन्ध के अन्तर्गत “युद्ध बन्द करने के लिए ध्रुव को स्वायंभुव मनु की सलाह” नामक ग्यारहवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।